Multidisciplinary International Magazine
(Peer-Reviewed)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
Volume 6, Issue 69-70, Jan-Feb 2021

JANKRITI जनकृति

भारतीय रंगमंच में स्त्रियों का प्रवेश

बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका
(विशेषज्ञ समीक्षित)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
वर्ष 6, अंक 69-70, जनवरी-फरवरी 2021

स्वाति मौर्या
पी.एच. डी. (हिन्दी)
शोद्यार्थी- जवाहरलाल नेहरुविश्वविद्यालय
नई दिल्ली
सम्पर्क सूत्र – 9198270130
ईमेल – Swatikan1540@gmail.com

सारांश -

भारतवर्ष में नाटक और रंगमंच की परम्परा प्राचीनकाल से ही चली आ रही है। महाभारत में, जिसे आज भी इतिहासकार पाँच हजार वर्ष से अधिक पुराना बताते हैं, नाटक की चर्चा है। हरिवंश पुराण में भी श्रीकृष्ण के वंशधर यादवों द्वारा रंगमंच पर नाटक खेलने का विस्तृत उल्लेख है। इसके बाद तो संस्कृत भाषा में नाटक और रंगमंच की एक सुदृढ़ परम्परा दिखलाई पड़ती है। जिसमे कालिदास, भास, भवभूति, दण्डी,विशाखदत्त, शूद्रक इत्यादि विश्व विख्यात रचनाकार हुए। यद्यपि नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद भारत में शास्त्रीय नाटकों का अभाव दिखलाई पड़ता है परन्तु ब्रिटिश आगमन के साथ ही आधुनिक काल में नाटक और रंगमंच की परम्परा एक बार फिर पुनर्जीवित हो जाती है और सम्पूर्ण भारत में विभिन्न क्षेत्रों और भाषाओं में रंगमंच को एक नया रुप देने का प्रयास किया गया। लेकिन रंगमंच के इतिहास को देखने पर यही मिलता है कि प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल के शुरुआती कुछ वर्षों तक स्त्रियों की भूमिका भी स्वयं पुरुष ही करते थे। जबकि भारत देश में हमेशा से ही विदुषी महिलाएं होती रही हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में अपना परचम लहरा रही थी। लेकिन यह विचारणीय प्रश्न है कि इतनी उन्नति परम्परा के रहते हुए भी रंगमंच में स्त्रियों की भूमिका पुरुष ही क्यों करते थे ? वैदिक काल से ही प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान देने वाली स्त्रियों को मंचन के क्षेत्र में प्रवेश मिलने में इतना संघर्ष क्यों करना पड़ा ?

बीज शब्द – *नाटक, रंगमंच , स्त्रियाँ , प्रवेश आदि*

भूमिका

आज रंगमंच के क्षेत्र में भारतीय स्त्रियों ने जो मुकाम हासिल किया है, वह उसे एकाएक नहीं प्राप्त हो गया बल्कि यह शिखर उसके कई वर्षों के संघर्षों का परिणाम है। इतिहास गवाह है कि भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान हमेशा ही दोयम दर्जे का रहा है। उसे कदम-कदम पर अपने अधिकारों की प्राप्ति एवं सुरक्षा हेतु संघर्ष करना पड़ा है। अत: ज़ाहिर सी बात है कि पुरुषों के वर्चस्ववादी क्षेत्र रंगमंच में उसे इतनी आसानी से प्रवेश कैसे मिल सकता था?

विषयवस्तु

हालांकि भारत में संस्कृत नाटकों एवं रंगमंच की सुदीर्घ परम्परा रही है परन्तु यह बात भी सत्य है कि उस दौर में नाटक एवं रंगमंच राजदरबार या कुलीन वर्ग तक ही सीमित था। उसका जनसामान्य से कोई सम्पर्क नहीं था, तो इस स्थिति में स्त्रियों का प्रवेश तो बहुत दूर की बात थी। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि आधुनिक दौर में जब 1846 से 1931 के मध्य जीवंत रंगमंच का एक बेहतरीन वातावरण था तो उस दौर में भी स्त्रियों को रंगमंच में प्रवेश क्यों नहीं मिल पाया ? जबकि इस दौर में अनेक नाट्य थिएटर और रंगमंडलियाँ सक्रिय रुप से भारतीय रंगमंच को आगे बढ़ाने के लिए प्रयासरत थे। फिर चाहे वह 1846 ई. जगन्नाथ शंकर शेट के प्रयास द्वारा बम्बई में स्थापित 'बादशाही थिएटर' हो या पेस्तन जी धनजी भाई मास्टर द्वारा स्थापित 'पारसी नाटक मंडली' नामक क्लब हो या फिर हिन्दी क्षेत्र में भारतेन्दु जी द्वारा काशी में स्थापित 'बनारस थिएटर' हो। ये सभी रंगमंच अपने स्तर पर मराठी, गुजराती एवं हिन्दी इत्यादि नाटकों का मंचन कर भारतीय रंगमंच को एक नया आयाम प्रदान करने का प्रयास कर रहे थे परन्तु स्त्रियों को लेकर इन सभी थिएटर कम्पनियों की एक ही सोच थी कि रंगमंच में सभ्य घरों की स्त्रियों का अभिनय करना बहुत ही अशोभनीय एवं घृणित कार्य है। इससे स्त्रियों के भीतर नैतिक मूल्यों का हास एवं घर के कार्यों के प्रति अवहेलना का भाव जागृत होता है। शायद यही कारण था कि उस समय स्त्रियों की भूमिका भी पुरुषों द्वारा ही की जाती थी।

लेकिन अब प्रश्न यह उठता है कि यद्यपि उस दौर में गाना-बजाना और अभिनय करना सभ्य घर के स्त्रियों के लिए अत्यधिक घृणित कार्य माना जाता था परन्तु उस समय भी कुछ स्त्रियाँ मजबूरी वश अपने जीवनयापन हेतु गाना-बजाना एवं नृत्य करने जैसे कार्यों में संलग्न थी, जिसे हमारा समाज वेश्या की संज्ञा प्रदान करता है। फिर इन स्त्रियों को भी 19वीं शताब्दी तक रंगमंच में प्रवेश क्यों नहीं मिला जिनके लिए गाना-बजाना या नृत्य करना अपने जीवनयापन का एक साधन था ? इस प्रश्न के जवाब में प्राय: यह कहा जाता है कि ऐसी स्त्रियाँ गाने-बजाने में तो ठीक थी लेकिन अभिनय के क्षेत्र में दक्ष नहीं थी या फिर ये स्वयं को प्रसिद्धि से दूर रखना चाहती थी।

यह बात सर्वविदित सत्य है कि वक्त और आवश्यकता लोगों की सोच को बदल देता है। शायद यही कारण था कि पारसी थिएटर अपने व्यवसायिक आवश्यकता के कारण स्त्रियों के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदलने के लिए मजबूर हो गया। पारसी थिएटर एक व्यवसायिक थिएटर था, जो अपने आर्थिक लाभ हेतु अधिक संख्या में दर्शक की आकांक्षा रखता था। शायद इसीलिए वह अपने नाट्य मंचन को मध्यवर्गीय जनता के मनोरंजन हेतु विस्तृत कर दिया जो इसके पूर्व धनाढ्य लोगों तक ही सीमित था।

जब मध्यवर्गीय जनता पारसी थिएटर की दर्शक बनी तो उसमे लगातार महिला दर्शकों की बढोत्तरी हो रही थी जिसके मद्देनजर पारसी थिएटर स्त्री पात्रों की वेशभूषा तथा अन्य रंगमंच पहलूओं को स्त्री दर्शको के नजरिए से भी देखने लगा।

पारसी रंगमंच मे पहली बार एकाएक हलचल तब मच गई जब उसमे मेरी फेंटन नामक एक एंग्लों इंडियन अभिनेत्री को लाया गया। रंगमंच के क्षेत्र में एक महिला के प्रवेश को लेकर तमाम थिएटर मालिको के मध्य एक युद्ध सा छिड़ गया। उस समय रंगमंच में स्त्री प्रवेश को लेकर काफी विरोध का माहौल बना, जिसकी एक झलक हमें के. एन. काबरा की बातों में भी दिखाई पड़ती है। के. एन. काबरा पारसी समुदाय के एक समाज सुधारक होने के साथ-साथ नाटककार भी थे। इन्होने गुजराती भाषा में कई नाटकों की रचना की तथा 1868 ई. में एक नाटक क्लब की स्थापना भी की, जो बाद में 'विक्टोरिया थिएट्रिकल कम्पनी' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लेकिन इन्होने 1976 ई. में सिर्फ इसलिए एक अन्य नाटक कम्पनी की स्थापना की क्योंकि विक्टोरिया थिएट्रिकल कम्पनी के मालिक दादी पटेल द्वारा इस कम्पनी में स्त्रियों को अभिनय करने हेतु प्रवेश दे दिया गया। एक बार दादी पटेल को हैदराबाद में नाट्य मंचन हेतु आमंत्रित किया गया था। वहाँ से लौटते वक्त इन्होने कई गानेवालियों को अपने साथ ले आई और अपने कंपनी में रख लिया जोकि के. एन. काबरा को बिल्कुल भी पसंद नही आया। उनका मानना था कि – रंगमंच की पवित्र दुनिया वेश्याओं के अभिनय से दूषित हो जायेगी।

यह रंगमंच के लिए अत्यंत खुशी की बात थी कि पुरुष वर्चस्व की परम्परा को तोड़ते हुए पारसी थिएटर द्वारा इस क्षेत्र में स्त्रियों का प्रवेश प्रारम्भ हो गया लेकिन कहीं न कहीं यह प्रयास अपने उस सीमा तक नहीं पहुँच पाया, जहाँ तक उसे पहुँचना था क्योंकि एक-दो कम्पनी को छोड़कर कोई भी कम्पनी अभी भी अपने मंडली में स्त्रियों को प्रवेश देने के लिए तैयार नहीं था। इसकी एक वजह कहीं न कहीं थिएटर मालिकों के भीतर स्त्री सुरक्षा का डर था। उन्हे लगता था कि स्त्री कलाकारों को रखने पर उन्हे सुरक्षा मुहैया कराना पड़ेगा क्योंकि पारसी नाटक मंडली के एक महिला कलाकार के साथ कुछ ऐसी घटना घटित हो गई थी। वह घटना थी कि एक बार पारसी कंपनी 1872ई. में लतीफा बेगम नामक एक महिला के साथ इंदरसभा नाटक का मंचन किया। यह महिला एक नृत्यांगना थी। इस नाटक में लतीफा बेगम ने परी की भूमिका निभायी थी। नाटक के समाप्त होने के बाद जब वह मंच से बाहर निकली तो किसी पुरुष द्वारा उसका अपहरण कर लिया गया। इस तरह किसी महिला कलाकार का अपहरण हो जाने से रंगमंच जगत में सनसनी फैल गई। बहरहाल कुछ भी हो लेकिन छिटपुट ही सही पारसी रंगमंच ने स्त्रियों के लिए अभिनय का द्वार खोल दिया था जोकि एक सराहनीय कदम था।

पारसी रंगमंच की भांति बंगाल में भी रंगमंच के क्षेत्र में स्त्रियों के प्रवेश को लेकर वहाँ के लोग कहीं न कहीं दो गुटों में बँट गये थे। 1873 ई. में शरतचंद्र घोष तथा बिहारीलाल चट्टोपध्याय ने परस्पर मिलकर बंगाल थिएटर नाम से एक कम्पनी की स्थापना की। ये दोनों मिलकर उस समय बंगाल की जनता एवं विद्वतजन को यह समझाने का प्रयास कर रहे थे कि बंगाली थिएटर में स्त्रियों को भी अभिनय के लिए प्रवेश दिया जाये। यह वही समय था जब बंगाल में अनेक समाज सुधारकों द्वारा विभिन्न प्रकार के समाज सुधार कार्य चल रहे थे। इन दिनों में बंगाल में माइकल मधुसूदन दत्त और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर समाज सुधारक के रुप में कार्य कर रहे थे। रंगमंच में स्त्रियों के प्रवेश को लेकर इन दोनों का मत बिल्कुल भिन्न-भिन्न था। जहाँ मधुसूदन दत्त स्त्रियों के प्रवेश के पक्ष में थे वहीं ईश्वरचन्द्र विद्यासागर इसके विरोध में थे। ये रंगमंच में वेश्याओं के प्रवेश के खिलाफ थे। इसी कारण उन्होने उस समिति से त्यागपत्र दे दिया

जिस समिति ने स्त्रियों के प्रवेश अनुमति प्रदान की थी। इसके बाद इस थिएटर में कलक्तते के रेडलाइट इलाकों से कई वेश्याओं को शामिल किया गया। इनमें से दो अभिनेत्रियों ने बंगाली थिएटर के प्रथम नाट्य मंचन सर्मिष्ठा में अपने किरदार को बेहतरीन तरीके से निभाया और इस नाटक को सफलता के शिखर पर पहुँचाया।

इस नाटक की सफलता के बाद इसके बारें में कई दिनों तक समाचार पत्र- पत्रिकाओं में लिखा जाता रहा। जनवरी 1874 ई. में अमृत बाजार पत्रिका ने लिखा कि- बंगाल थिएटर संभ्रांत बंगाली समाज के लिए नई चीज है। यह अत्यन्त सुखद और खूबसूरत प्रयास है कि महिलाएं स्त्री पात्रों की भूमिका अदा करें। परन्तु इसके कारण समाज में अनैतिकता को बढ़ावा मिलेगा और समाज को गलत संदेश मिलेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि पारसी रंगमंच की भांति बंगाल में भी रंगमंच के क्षेत्र में स्त्रियों के प्रवेश का कहीं न कहीं विरोध हो रहा था। इन विरोधों के बावजूद भी कुछ ऐसे व्यक्तित्व थे जो स्त्री अभिनेत्रियों के प्रवेश का समर्थन कर रहे थे । स्त्री समर्थकों मे एक नाम किरणचंद्र दत्त का है। ये बंगाल थिएटर के साथ नाटककार एवं निर्देशक के रुप में कार्य कर रहे थे। इनका कहना था कि यूरोप में कई लोग गृहिणी महिलाओं को अभिनय को एक पेशे के रुप में अपनाने के लिए प्रोत्साहित करते है। इसलिए हमें भी अपनी महिलाओं को अभिनय हेतु स्वतंत्रता देनी चाहिए।

इन सब की अपेक्षा हिन्दी क्षेत्रों की स्थिति और भी बदतर थी क्योंकि यहाँ रंगमंच को ही बहुत हेय दृष्टि से देखा जाता था। यहाँ स्त्रियों का अभिनय करना तो दूर की बात थी अपितु अच्छे घरों के लड़को भी इस रंगजगत से दूर रहने की सलाह परिवारों की तरफ से दी जाती थी। क्योंकि ऐसे परिवारों को लगता था कि नाच-गाना और अभिनय अच्छे घरों के लड़को को शोभा नहीं देता। हिन्दी नाटक और रंगमंच के शुरुआती दिनों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनकी मंडली नाटक की रचना कर स्वयं उनका मंचन करते तो थे परन्तु स्त्रियों को लेकर इन लोगों की भी वही भावना थी कि स्त्रियों को रंगमंच के क्षेत्र में कदम नहीं रखना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से महिलाएँ अपनी घर की जिम्मेदारियों को ठीक ढंग से नहीं निभा पायेगी। शायद यही वजह है कि भारतेन्दु युग के दौरान नाट्य मंचन की जो लहर चली थी उसमे भी स्त्रियों की भूमिका पुरुष ही करते थे। इसीलिए इस दौर में भी किसी स्त्री का जिक्र नहीं प्राप्त होता है।

रंगमंच के क्षेत्र में स्त्रियों के साथ हो रहे इस भेदभाव के प्रश्न को सर्वप्रथम कुमारी सत्यवती ने अपने एक लेख के माध्यम से उठाया। उनका यह लेख माधुरी नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। इस लेख के माध्यम से इन्होने प्रश्न उठाया कि हिन्दी रंगमंच पर स्त्रियाँ क्यों नही ? इसके अतिरिक्त इन्होने पुरुषों द्वारा स्त्रियों की भूमिका निभाये जाने का भी विरोध किया। इन्होने अपने लेख में लिखा कि – जिस प्रकार जीवन स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व इन दो भागों में विभक्त है तथा जीवन के हर कार्य में स्त्री तथा पुरुष दोनों को भाग लेना पड़ता है। उसी प्रकार कला के अंग नाटक में भी जहाँ जीवन के सुख और दुख दोनों दिखाए जाते हैं, स्त्री एवं पुरुष दोनों को भाग लेना चाहिए। दाढ़ी मूँछ मुड़ाए हुए स्त्री- भेष में पुरुषों का रंगभूमि में आना हास्यास्पद तथा कला की दृष्टि से अपमान जनक है। पुरुषों के लिए यह बात सर्वथा अस्वाभाविक होने के कारण यह एकदम असंभव भी है कि वह सफलतापूर्वक स्त्री की भूमिका अदा कर सके एवं वास्तविक भावों को लोगों के हद्वय में उतार सके। क्या यह संभव है कि पुरुष के मन में वही भावनाएँ उसी प्रकार जोरों से आन्दोलित हो सकती है, जिस प्रकार स्त्री के मन में होता है। पुरुष किसी बात को उसी तरह महसूस नहीं कर सकता, जिस प्रकार स्त्री और जब हमारा हद्धय ही किसी भावना के

आवेग से प्रकंपित नहीं हो रहा है तब यह कैसे संभव होगा कि हम किसी दूसरे के मन पर प्रभाव डालने में समर्थ हों। यह कला नहीं , कला का उपहास है। जब भावनाएँ झूठी या बनावटी होगी तब उनकी अभिव्यक्ति भी वैसी होगी। इसलिए कला की दृष्टि से स्त्री का रंगमंच पर आना आवश्यक है।

सत्यवती जी का यह लेख हिन्दी क्षेत्र के विद्वतजनों के मध्य एक हलचल सी उत्पन्न कर दी। पुरुष विद्वान विभिन्न प्रकार से इस लेख पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे। इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरुप ही तत्कालीन पत्रिका 'विशाल भारत' के सह संपादक ब्रजमोहन लाल वर्मा ने लिखा कि – "रंगमंच पर स्त्रियों को स्थान दिलाने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है कि क्या रंगमंच पर भले घर की ललनाओं का उतरना वांछनीय है। कला की दृष्टि से तो मैं पहले ही स्वीकार कर चुका हूँ कि स्त्री की भूमिका स्त्री के द्वारा किया जाना निश्चय ही वांछनीय है परन्तु क्या सदाचार, नैतिकता और चरित्र गठन आदि की दृष्टि से हमारी लड़कियों का नाटक कला में अभिनय करना वांछनीय एवं उचित है? क्या रंगमंच पर न थिरकने से ही हमारी देवियों की शक्तियाँ अविकसित होकर नष्ट हो रही है? क्या थिएटर में ही नाच कर स्त्रियों की शक्ति के अपव्यय को रोका जा सकता है? संसार में कितनी महान स्त्रियों ने नाटक में अभिनय करके अपना विकास किया है ?"

लेकिन आज प्रशंसनीय बात यह है कि इन सब टिप्पणियों एवं इतनी संकीर्ण मानसिकता वाले समाज के बावजूद धीरे-धीरे 1930 ई. के बाद स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। इसका कारण जहाँ एक ओर असहयोग आन्दोलन में महिलाओं की भागीदारी थी वहीं दूसरी ओर प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना थी। गाँधी जी ने स्त्रियों को एहसास कराया कि वह किसी भी कार्य को कर सकती हैं। स्त्रियों को भी एहसास हुआ कि जब वह सड़कों पर निकल कर ब्रिटिशों के विरुद्ध आन्दोलन कर सकती हैं तो फिर मंच पर अभिनय क्यों नहीं ? दूसरी ओर प्रगतिशील लेखन ने भी लोगों के विचारों को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया। कहीं न कहीं समानता का एहसास यहीं से प्रारम्भ हुआ।

25 मई 1943 ई. में जब भारतीय जननाट्य संघ (इप्टा) और 15 जनवरी 1944 ई. में पृथ्वी थिएटर की स्थापना हुई तो एकाएक ऐसा लगा कि रंगमंच के क्षेत्र में परिवर्तन की एक लहर सी चल पड़ी क्योंकि इन रंगमंडलियों से जुड़े हुए पुरुष कलाकार बिना किसी भय के अपने घर की स्त्रियों को भी अभिनय के क्षेत्र में ला रहे थे। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण इप्टा एवं पृथ्वी थिएटर में महिला कलाकारों की संख्या है। इन थिएटरों से जुड़ी महिलाओं में ज़ोहरा सहगल, रेखा जैन, उज़रा मुमताज, इत्यादि न सिर्फ महिला थी अपितु धनी परिवारों से भी थी जिससे लोगों का यह भ्रम भी टूटा कि अभिनय सिर्फ गरीब घरों की महिलाएं या फिर वेश्याएँ ही करती है। ये महिला कलाकार न सिर्फ अभिनय किया करती थी अपितु नाट्य प्रस्तुति के उद्देश्य से अपने नाट्यमंडली के संग पूरे देश का भ्रमण भी करती थी।

इतना ही नहीं स्त्रियाँ समय के साथ-साथ रंगमंच में अपना परचम लहराने लगी। जिसका एक कारण 1959 ई. में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना था। इस विद्यालय की स्थापना ने रंगमंच के क्षेत्र में स्त्रियों के प्रवेश को और मजबूती प्रदान किया क्योंकि अब स्त्रियाँ अभिनय की बारीकियों को बेहतर तरीके से सीखने और समझने के लिए बकायदा प्रशिक्षण प्राप्त करने लगी। अब वो न सिर्फ अभिनय के क्षेत्र में बल्कि नाट्य निर्देशन के क्षेत्र में भी अपना हाथ आजमाने लगी जिसमे वो काफी हद तक सफल भी रही हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण उषा गांगुली, शान्ता गाँधी,रेखा जैन, त्रिपुरारी शर्मा, विजया मेहता, प्रतिभा अग्रवाल इत्यादि जैसी अनेक महिला नाट्य निर्देशक हैं। जो निर्देशन के क्षेत्र में काफी सफलता

प्राप्त कर चुकी हैं। इन नामोल्लेख का तात्पर्य यह बिल्कुल भी नहीं है कि इन सभी का संबंध राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रशिक्षण से ही है परन्तु ये सभी एक सफल नाट्य निर्देशक रही है।

राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की स्थापना से एक लाभ यह हुआ कि यहाँ से प्रशिक्षित होकर छात्र बाहर निकलने लगे और नाटक एवं रंगमंच को एक नया मुकाम देने लगे। इसी कारण 1965 ई. के आस-पास दिशान्तर, अग्रदूत, अभियान और यात्रिक जैसी रंगसंस्थाएँ उभर कर सामने आयी जिसमे पुरुषों के साथ-साथ महिला कलाकार भी बढ़-चढ़ कर हिस्सा ले रही थी।

निष्कर्ष

कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि पुरुष वर्चस्ववादी रंगमंच के क्षेत्र में प्रवेश हेतु स्त्रियों को प्रारम्भ में काफी संघर्ष करना पड़ा परन्तु वक्त एवं आवश्यकता के माँग के अनुसार धीरे- धीरे इनकी उपस्थिति इस क्षेत्र में मजबूत होती चली गई। आज स्थिति यह है कि थिएटर में काम करते हुए कई महिला कलाकार फिल्म जगत में भी अपना परचम लहरा रही हैं। आज महिला कलाकार अपने अभिनय के दम पर स्त्री प्रधान फिल्में भी कर रही हैं। लेकिन अफसोस की बात यह है कि इतनी काबिलियत रखने के बावजूद भी पिछले डेढ़ सौ वर्षों मे भी स्त्रियों को वो स्थान नहीं प्राप्त हो सका है जिसकी वो अधिकारिणी है। आज भी इस क्षेत्र में स्त्रियों को दोयम दर्जे का स्थान ही प्राप्त है। अत: भारतीय समाज को इस दृष्टिकोण से पुन: विचार करने की आवश्यकता है कि योग्यता का स्थान लिंग और जाति से ऊपर होता है अथवा नहीं।

सन्दर्भ सूची

1. ज़ोहरा सहगल, करीब से,मंच एवं फिल्मी पर्दे से जुड़ी यादें, अनुवादक – दीपक पाठक, प्रकाशक – राजकमल, प्रथम संस्करण. 2013
2. कु. सत्यवती, रंगमंच पर स्त्रियों का स्थान, माधुरी पत्रिका,वर्ष – 10, खंड – 1, 1931, संख्या-5
3. बलवंत गार्गी, रंगमंच, प्रकाशक - राजकमल दिल्ली, प्रथम हिन्दी संस्करण.1968
4. ब्रजमोहन वर्मा, रंगमंच और स्त्रियाँ, माधुरी वर्ष-10, खंड-1, 1931, संख्या – 6
5. योगराज टंडन, थिएटर के सरताज पृथ्वीराज, प्रकाशन- राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण.2004
6. औरतें और रंगमंच, विशेषांक, नुक्कड़, अप्रैल- सितंबर, 2007, अंक- 35-36